जीवन-ज्योति माला

जगदीशचन्द्र बसु

सन्तराम वत्स्य





जगदीशचन्द्र वसु

सन्तराम 'वत्स्य'

ज्ञान भारती, दिल्ली

प्रकाशक :
ज्ञान भारती
४/१४, रूपनगर
दिल्ली-११०००७

संस्करण : १९९० • **मूल्य : ६.००**

मुद्रक :
सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस
ए-९५, सेक्टर-५
नोएडा-२०१३०१

दो शब्द

"विज्ञान की व्यक्तिगत शाखाओं और उनके विकास में योग देने वाले मुख्य वैज्ञानिकों की जीवनियों का अध्ययन विज्ञान के वास्तविक अर्थ और उसकी आत्मा को ठीक तरह समझने के लिए जरूरी है। उसके पढ़ने से हमें जो स्फुरणा प्राप्त होती है, वह प्रायः विज्ञान पर लिखे गए अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण औपचारिक ग्रन्थों में अधिक होती है।"

नोबेल पुरस्कार विजेता जगत्-प्रसिद्ध महान् वैज्ञानिक श्री चन्द्रशेखर वेंकट रमन के ये वाक्य ही इस 'जीवन-ज्योति-माला' की प्रेरणा हैं।

'जीवन-ज्योति-माला' की इस प्रथम लड़ी में देश-विदेश के महान् वैज्ञानिकों की जीवनियां प्रस्तुत की जा रही हैं।

वैज्ञानिक सबसे अधिक जिज्ञासु लोग होते हैं। उनके मन में अपने चारों ओर की वस्तुओं के बारे में तरह-तरह के प्रश्न उठते हैं। वे उन प्रश्नों के उत्तर खोजने के लिए अनेक पुस्तकें पढ़ते हैं, उन पुस्तकों का बारीकी से निरीक्षण और परीक्षण करते हैं। 'क्यों' और 'कैसे' का उत्तर ही हमारी सारी वैज्ञानिक खोजें हैं।

आज के युग को इन वैज्ञानिक खोजों के कारण ही 'विज्ञान का युग' कहा जाता है। इन खोजों के कारण ही आज हम अनेक सुख-सुविधाओं का उपभोग कर रहे हैं। कुछ दशक पूर्व असम्भव लगने वाली बातें आज इतनी साधारण हो गई हैं कि उनकी ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। रेल, मोटर, हवाई जहाज, बिजली, कैमरा, एक्सरे, सिनेमा, रेडियो, टेलीविज़न, टेलीफोन, ग्रामोफोन, परमाणु बम और अन्तरिक्ष यान आज हमें आश्चर्यचकित नहीं करते। पर यदि इन खोजों की कहानी आप पढ़ें तो अवश्य चकित रह जाएं। तब आपको यह भी पता चल जाएगा कि इन खोजों के पीछे अनेक वैज्ञानिकों की वर्षों की सतत्

साधना है। किसी वैज्ञानिक के मन में एक बात आयी और उसने परीक्षणों तथा प्रयोगों द्वारा उसका पता लगाना प्रारम्भ किया। उसी खोज को बाद के वैज्ञानिकों ने और आगे बढ़ाया और इस प्रकार अनेक वर्षों में वह कार्य पूरा हुआ। विज्ञान की एक-एक खोज में अनेक राष्ट्रों और युगों के व्यक्तियों का योग है।

ज्ञान का यह भण्डार पुस्तकों में हम सबको मिल सकता है, उससे लाभ उठाकर, हम नई खोजों और विज्ञान के नये चमत्कारों की दिशा में आगे से आगे बढ़ सकते हैं।

पुस्तकों में संचित ज्ञान का लाभ उठाकर, इसे सीढ़ी बनाकर नये आविष्कारों और खोजों तक पहुंचने वाला आगामी युग का वैज्ञानिक कौन होगा? वह आप भी हो सकते हैं।

इन जीवनियों को पढ़कर यह स्पष्ट पता चल जायगा कि वैज्ञानिक खोजें संयोगमात्र या किसी चमत्कार पर आधारित न होकर वर्षों के अथक परिश्रम का परिणाम हैं। इन जीवनियों को पढ़कर जहां हमें विज्ञान के सम्बन्ध में अनेक बातों का पता चलेगा, वहां उन गुणों से भी परिचय प्राप्त होगा, जिनके कारण वैज्ञानिक सफल हो सके।

विज्ञान के जिज्ञासुओं और छात्रों के लिए वैज्ञानिकों के जीवन-चरित्रों का अध्ययन बड़े महत्त्व का है। कुछ शिक्षाशास्त्रियों का तो यह मत है कि विज्ञान की प्रारम्भिक शिक्षा वैज्ञानिकों के जीवन-चरित्रों द्वारा ही शुरू होनी चाहिए।

पाठकों की रुचि विज्ञान में बढ़े, वे जीवन में भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाएं और निरीक्षण और परीक्षण के अभ्यस्त बनें, इस आशा और विश्वास के साथ मैं इसे प्रस्तुत कर रहा हूं।

—सन्तराम वत्स्य

आज से एक सौ दस वर्ष पहले के भारत को ज़रा कल्पना कीजिए। आप ठीक-ठीक सोच भी नहीं पाएंगे कि तब हमारा देश आधुनिक ज्ञान-विज्ञान में कितना पिछड़ा हुआ था। देश पर अंग्रेज़ों का शासन था। अंग्रेज़ी पढ़ाई-लिखाई अभी चालू ही हुई थी। अपने देश में किसी भी विषय के विशेष अध्ययन की कोई सुविधा नहीं थी। जो लोग पढ़ना चाहते, वे विलायत जाकर पढ़ते। देश में विज्ञान की पढ़ाई और प्रयोगों के लिए एक भी प्रयोगशाला नहीं थी। उच्च कक्षाओं में पढ़ाने वाले प्रोफेसर प्रायः अंग्रेज़ थे। वे भारतीयों को अच्छी नज़र से नहीं देखते थे। उनका विचार था, कि भारतीय आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकने के योग्य नहीं हैं।

उस परतंत्रता के युग में भी जिस महान् वैज्ञानिक ने अपनी महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक खोजों से देश का गौरव बढ़ाया, भारत माता का मस्तक उन्नत किया और मानव-जाति के ज्ञान में वृद्धि की, वह हैं जगदीशचन्द्र वसु।

हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने जड़ और चेतन-सृष्टि में जिस एक अखण्ड सत्ता का साक्षात्कार किया था, उसी को आधुनिक विज्ञान की साक्षी से इस युग के इस मनीषी ने सिद्ध करके दिखा दिया। उन्होंने अपने प्रयोगों द्वारा यह प्रमाणित कर दिया कि जैसा जीवन-प्रवाह प्राणियों में है, वैसा ही वनस्पतियों में भी है। यही नहीं, 'धातुओं तक में चेतन सत्ता के अनेक प्रमाण मौजूद हैं,' यह चौंकाने वाला तथ्य प्रमाण-सहित उन्होंने विज्ञान-जगत् के सामने प्रस्तुत किया। इस प्रकार भौतिक जगत् और आध्यात्मिक जगत् में उन्होंने समन्वय की सिद्धि की। विभिन्नता में एकता के सूत्रों की खोज करने वाले इन पुण्यात्मा की जीवन कहानी युग-युग तक प्रेरणा देती रहेगी।

बचपन और शिक्षा

बंगाल के ढाका जिले[1] में, विक्रमपुर कस्बे के पास राढ़ीखाल नामक एक ग्राम है। इसी गांव में भगवान चन्द्र वसु का परिवार रहता है। भगवानचन्द्र वसु का आस-पास के इलाके में अच्छा मान-सम्मान था। वे उस ज़माने में डिप्टी कलक्टर थे, और यह बड़ी प्रतिष्ठा

१. ढाका जिला अब बंगला देश में चला गया है।

का पद समझा जाता था। उन दिनों इस प्रकार के बड़े-बड़े पदों पर प्रायः अंग्रेज़ ही रखे जाते थे। ३० नवम्बर, १८५८ ई० को भगवानचन्द्र वसु के यहां पुत्र का जन्म हुआ। नाम रखा गया जगदीशचन्द्र वसु।

भगवानचन्द्र वसु बड़े कर्मठ और उत्साही स्वभाव के थे। उद्योग-धन्धों से उन्हें बड़ा लगाव था। उन्होंने उद्योगों के विकास के लिए बहुत काम किया। जगदीश-चन्द्र वसु की माता भी बड़े भले स्वभाव की महिला थीं। धर्म में उनकी बड़ी श्रद्धा थी। हिन्दू महिलाओं के आचारों का वह पूरी तरह पालन करतीं। माता-पिता के चरित्र का प्रभाव बालक जगदीश पर खूब पड़ा। बचपन में जगदीश का पालन-पोषण बड़े लाड़-प्यार से हुआ। भगवानचन्द्र वसु उन दिनों फरीद कोट जिले में थे।

भगवानचन्द्र वसु ने उच्च सरकारी अधिकारी होते हुए भी बालक जगदीशचन्द्र वसु को गांव की पाठशाला में ही पढ़ाने का निश्चय किया। यह निश्चय उन्होंने सोच-विचारकर ही किया था। उनका विचार था कि प्रारम्भिक शिक्षा अंग्रेज़ी में न होकर मातृ-भाषा में ही होनी चाहिए। यहां जगदीश के सहपाठी किसानों तथा मछुओं के बालक थे।

डा० वसु ने स्वयं लिखा है: 'मेरे पिता ने मुझे

बंगला पाठशाला में भेजा, जबकि मेरे पिता के अधीन कर्मचारी अपने बच्चों को अंग्रेज़ी स्कूल में भेजते थे। इस पाठशाला में मुझे उन लोगों के लड़कों के साथ रहने का अवसर मिला, जो ज़मीन तोड़कर उस पर फसलें उगाते थे। वहां मुझे मछुआरों के लड़कों से नदियों में रहने वाले भंयकर जीव-जन्तुओं की रोमांचकारी कहानियां सुनने को मिलीं, जिनसे मुझे सच्चे पौरुष का पहला पाठ मिला। बचपन में पुराने ढंग की पाठशाला में पढ़ने का परिणाम यह हुआ कि मैंने अपनी भाषा सीखी, अपने ढंग से सोचना सीखा और सीखा अपनी राष्ट्रीय संस्कृति का पहला पाठ। वहां मैंने अपने-आपको दूसरों के बराबर समझना और झूठे बड़प्पन से दूर रहना सीखा।''

उन दिनों भगवानचन्द्र वसु के इलाके फरीदपुर में डाकुओं का बहुत ज़ोर था। वे राह चलते लोगों को तो लूटते ही, आस-पास के गांवों में भी डकैती डालने से न चुकते। गांववाले इन डाकुओं से इतना डरते थे कि रपट तक नहीं लिखवाते थे।

डाकुओं के गिरोहों को पकड़ने और सज़ा देने का काम भी भगवानचन्द्र वसु को करना पड़ता। डाकू उनके शत्रु बन गए थे और वह डाकुओं के शत्रु थे। उनकी हिम्मत और कर्तव्य-पालन की सभी

प्रशंसा करते थे।

एक बार भगवानचन्द्र ने डाकुओं के ठिकाने पर छापा मारा। कुछ डाकू तो भाग गए पर सरदार और कुछ दूसरे पकड़े गए। डाकुओं को सज़ा भी भगवानचन्द्र ने ही सुनाई। जेल जाते समय डाकुओं ने उन्हें धमकी दी कि बाहर आने पर मज़ा चखाएंगे।

हुआ भी यही। डाकू जब सज़ा काटकर आए तो एक रात उन्होंने भगवानचन्द्र के घर को आग लगा दी। भगवानचन्द्र वसु का सब सामान जलकर राख हो गया। पर वाह रे भगवानचन्द्र वसु! इस घटना के बाद भी न तो मनुष्य की अच्छाई पर से उनका विश्वास उठा और न ही डाकुओं को पकड़ने और सज़ा देने के काम में ढिलाई आयी। वह अपने कर्तव्य का पालन पहले की ही तरह करते रहे।

इसके बाद एक और घटना घटी। एक और डाकू, जिसको पकड़कर भगवानचन्द्र ने कभी सज़ा दी थी, जेल से सज़ा काटकर आया। वह भगवानचन्द्र के पास आकर गिड़गिड़ाया कि मैं अब कहां जाऊं। सज़ा पाए डाकू को कौन नौकर रखने लगा। उसने यह भी बताया कि डकैती का काम वह आगे नहीं करना चाहता।

भगवानचन्द्र ने उसकी बातों से समझ लिया कि वह जो कुछ कह रहा है, सच्चे मन से कह रहा है। वह मनुष्यों के पारखी थे। उन्होंने उसे अपने पास नौकर रख लिया। वह प्रतिदिन जगदीश को पाठ-शाला छोड़ आता और शाम को वापस ले आता। लड़का जगदीश डकैत के कन्धे पर बैठ सुबह जाता और शाम को लौट आता। यह डकैत रास्ते में जाते-आते समय डाकुओं की सच्ची कहानियां जगदीश को सुनाता। वह अपने शरीर पर समय-समय पर डकैतियों में लगे घावों को दिखाता और अपने डाकू-जीवन के प्रसंग सुनाता।

इस डाकू पर भगवानचन्द्र ने जो विश्वास किया था, वह ठीक ही निकला।

बालक जगदीश के साथी उसके घर पर आते। कोई किसान का लड़का तो कोई मछुआरे का। जगदीश की माता सभी को खिलातीं-पिलातीं। उसके अछूत कहे जाने वाले साथियों को भी वे अपने बच्चे की तरह ही मानतीं और घर में बेरोक-टोक आने देतीं।

भगवानचन्द्र के सगे-सम्बन्धी उन्हें बच्चे को इस गंवई पाठशाला में न भेजने की सलाह देते। उनका कहना था कि मामूली क्लर्क भी अपने बच्चों को

अंग्रेज़ी स्कूल में पढ़ाते हैं। फिर तुम तो अफसर हो। जहां तुम्हारे चपरासी का बच्चा पढ़ता है, वहीं तुम्हारा भी पढ़े, यह ठीक नहीं है; पर भगवानचन्द्र ने किसी की बात नहीं मानी और जगदीश उसी पाठशाला में पढ़ता रहा।

बाद में जगदीशचन्द्र वसु के कार्य और व्यवहार से यह साबित हो गया कि उनके पिता ने ठीक ही किया था।

पाठशाला में अपने ढंग से शिक्षा होती रही। किसानों और मछुआरों के बच्चों और डकैत की कहानियों ने भी जगदीश के बाल-मन को प्रभावित किया। देश की मिट्टी से प्यार, मनुष्य मात्र की समानता और देशी आचार-विचार यहीं जगदीश ने सीखे। इसके साथ-साथ एक और शिक्षक भी था जिससे जगदीश ने बहुत कुछ सीखा। यह उसके पिता भगवानचन्द्र वसु थे।

पिता से वह इधर-उधर के कितने ही प्रश्न पूछता। यह क्या है? यह कैसे है? और ऐसा क्यों है? विद्वान् पिता उसके प्रश्नों का उत्तर देते। अच्छी तरह हर बात समझाकर बताते। कई बार ऐसा भी होता कि किसी प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर उन्हें नहीं सूझता। तब वे टाल-मटोल न करके स्पष्ट कह देते कि मुझे

पता नहीं। एक प्रश्न का उत्तर कितने ही नये प्रश्नों को पैदा करता और बालक का ज्ञान का प्यासा मन नित नई बातें सीखने में लगा रहता। जब किसी प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता, तो इससे भी एक लाभ होता। उस बात को जानने की इच्छा बालक में बराबर बनी रहती।

पाठशाला की शिक्षा समाप्त करने के बाद, आगे की पढ़ाई के लिए जगदीश को कलकत्ता भेजा गया। यहां सेंट ज़ेवियर स्कूल में पढ़ाई शुरू हुई। जगदीश पढ़ाई में कोई असाधारण छात्र नहीं था। साधारण ढंग से वह एक कक्षा से दूसरी कक्षा में बढ़ता रहा। स्कूल की शिक्षा पूरी हुई तो कलकत्ता में ही सेंट ज़ेवियर कॉलेज में प्रवेश मिल गया। यहां उनके एक प्राध्यापक थे फादर लेफांट। वह विज्ञान पढ़ाते थे। उनकी विशेषता यह थी कि वह विज्ञान को प्रयोगों द्वारा समझाते थे। जब वह पढ़ा रहे होते तो छात्र बड़े ध्यान से सारी बातें सुनते। इस प्राध्यापक के कारण जगदीशचन्द्र की रुचि वैज्ञानिक प्रयोगों में बढ़ी। बी० ए० की परीक्षा जगदीशचन्द्र ने अच्छे अंक लेकर उत्तीर्ण की।

अब नई समस्या सामने आयी। आगे क्या पढ़ें या क्या करें?

उन दिनों प्रायः समर्थ माता-पिताओं के पुत्र—योग्य छात्र विलायत में आई०सी०एस० की शिक्षा लेने जाते थे। वहां से आते ही अफसर बनकर भारत में अंग्रेज़ी शासन के पुर्ज़े बन जाते। आई० सी० एस० की पढ़ाई विलायत में ही होती थी। कुछ लोग कानून की पढ़ाई के लिए भी वहां जाते। वे बैरिस्टर बनकर आते। विज्ञान पढ़ने कोई बिरला ही जाता।

जगदीशचन्द्र भी विलायत जाकर आगे पढ़ना चाहते थे। पर अफसर होते हुए भी भगवानचन्द्र के पास लड़के को विलायत भेजने और वहां की पढ़ाई का खर्च उठाने जितने पैसे नहीं थे।

इन दिनों स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण भगवानचन्द्र लम्बी छुट्टी पर थे। उन्हें इन दिनों तनख्वाह भी नहीं मिलती थी। ऊपर से कुछ कर्ज़ भी सिर पर चढ़ गया था। इस बात का भी कुछ भरोसा नहीं था कि वे फिर से नौकरी पर जा भी सकेंगे या नहीं। पर वे लड़के का भविष्य बनाना चाहते थे।

उधर जगदीशचन्द्र की माता अपने से दूर समुद्र-पार बेटे को भेजने के लिए तैयार नहीं थीं। इस स्थिति में विलायत जाने की बात रह गई। पर कुछ ही दिनों बाद मां ने पुत्र की उन्नति में बाधक न बनने का निश्चय किया और विलायत जाने की आज्ञा दे दी।

रास्ते की एक रुकावट दूर हुई।

अभी यह निश्चय होना बाकी था कि जगदीशचन्द्र विलायत जाकर क्या पढ़ें। उनके पिता आई०सी०एस० की पढ़ाई के विरुद्ध थे। वे जानते थे कि जगदीश की प्रवृत्ति दूसरों पर शासन करने की नहीं है। अन्त में निश्चय हुआ कि जगदीशचन्द्र वसु विलायत जाकर डाक्टरी पढ़ेंगे।

अब धन जुटाने की समस्या थी। मां ने कहा कि मेरे सारे गहने बेचकर, इस काम के लिए रुपयों की व्यवस्था कर ली जाए। पर इसकी जरूरत नहीं पड़ी। भगवानचन्द्र स्वस्थ होकर नौकरी पर चले गए और उन्हें तनख्वाह मिलने लगी। घर के खर्च में कुछ कटौती करके जगदीश की पढ़ाई के लिए रुपये की व्यवस्था हो गई।

अब भी एक रुकावट रास्ता रोके खड़ी थी। कुछ समय पहले जगदीश को मलेरिया ज्वर हो गया था। यह ज्वर टूटने का नाम ही नहीं लेता था। स्वास्थ्य बहुत ही दुर्बल था। ऐसी हालत में विदेश कैसे भेजा जाए?

फिर यह तय हुआ कि सम्भवतः समुद्री यात्रा में स्वास्थ्यप्रद समुद्री जलवायु के प्रभाव से स्वास्थ्य सुधर जाएगा। इसलिए जाने की बात पक्की हो गई।

इंग्लैंड में शिक्षा

सन् १८८० में जगदीशचन्द्र वसु इंग्लैंड में डॉक्टरी शिक्षा पाने के लिए चले गए।

जहाज़ में रोग और भी बढ़ गया। साथ के यात्री इस तरुण की बीमारी से चिन्तित हो उठे। लेकिन जहाज़ के डाक्टरों ने किसी तरह रोग पर काबू पा ही लिया। जगदीशचन्द्र इंग्लैंड की राजधानी लन्दन जा पहुंचे।

नया देश, नया वातावरण, नये तौर-तरीके। यहां फिर समस्याएं सामने आयीं।

यहां पहुंचने पर पता लगा कि भारत में उन्होंने विज्ञान की जो शिक्षा पायी है, वह डॉक्टरी की पढ़ाई के लिए पर्याप्त नहीं है। तो फिर! फिर यह कि रसायन और भौतिक विज्ञान के अतिरिक्त, जिन्हें वे भारत में पढ़ चुके थे, प्राणिशास्त्र और वनस्पतिशास्त्र लेकर फिर से बी० ए० परीक्षा देनी पड़ेगी। तब डॉक्टरी की असली पढ़ाई शुरू हुई, जिसके लिए वह इतनी दूर आए थे, तो एक नई समस्या उठ खड़ी हुई।

डॉक्टरी की पढ़ाई में शरीर-क्रिया-विज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मुर्दों को चीर-फाड़ कर शरीर

की भीतरी रचना और क्रिया को समझाया जाता है। पर चीर-फाड़ के कमरे में घुसते ही दुर्गन्ध और वहां के घिनौने दृश्य से जगदीशचन्द्र घबरा उठते। इस काम में वे अपने को असमर्थ पाते। पुराना बुखार फिर शुरू हो गया। अन्त में अध्यापक डाक्टरों की सलाह से जगदीशचन्द्र को यह पढ़ाई छोड़नी पड़ी।

घर से डाक्टरी पढ़ने का निश्चय करके चले थे। अब क्या किया जाए? एक नई समस्या सामने आयी। बिना कुछ किए-धरे देश लौट जाना भी उन्हें स्वीकार नहीं था।

कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में भौतिकी रसायन और वनस्पतिशास्त्र की पढ़ाई चल रही थी, लन्दन विश्वविद्यालय में बी० एस-सी० की। जगदीशचन्द्र ने थोड़े से अन्तर से कैम्ब्रिज से बी० ए० और लन्दन विश्वविद्यालय से बी० एस-सी० की उपाधि प्राप्त की। तत्पश्चात् वह स्वदेश लौट आए।

इन दो विश्वविद्यालयों में पढ़ते समय, उस समय के अनेक वैज्ञानिक प्राध्यापकों से उनका परिचय हुआ। प्राध्यापक फासेट की उन पर विशेष कृपा थी। लार्ड रेले, माइकेल फास्टर, फ्रांसिस डारविन, डेगर तथा वाइनन जैसे प्रमुख वैज्ञानिक उनके शिक्षकों में थे। सभी जगदीशचन्द्र की प्रतिभा के प्रशंसक थे।

जगदीशचन्द्र भी अपने प्राध्यापकों की कार्य-प्रणाली, सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति और प्रकृति के रहस्यों को प्रकाश में लाने के प्रयत्न का बारीकी से मनन करते थे। और आगे चल ये गुण उनके बड़े काम आए। अपनी योग्यता के कारण उन्हें छात्रवृत्ति भी मिलती रही। पर उस समय यह नहीं कहा जा सकता था कि यह छात्र भविष्य में संसार का अग्रणी वैज्ञानिक बन सकेगा और अपनी चमत्कारी खोजों से विज्ञान-जगत् में तहलका मचा देगा।

प्राध्यापक पद पर नियुक्ति

जगदीशचन्द्र वसु पर विशेष स्नेह रखने वाले विज्ञान के प्रसिद्ध प्राध्यापक श्री फासेट ने, भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड रिपन के नाम एक सिफारिशी चिट्ठी लिखकर जगदीशचन्द्र वसु को दे रखी थी। इस चिट्ठी के कारण उन्हें स्वदेश में नौकरी प्राप्त करने में सहायता मिली।

वह इस पत्र को लेकर वायसराय महोदय के पास शिमला गए। पत्र दिया। उनपर उसका प्रभाव पड़ा। उन्होंने आश्वासन देकर जगदीशचन्द्र को विदा किया। जगदीशचन्द्र प्रसन्नचित्त वापस कलकत्ता लौटे।

कलकत्ता लौटकर वह वहां के शिक्षा निदेशक

महोदय से मिले । उन्हीं के द्वारा नौकरी मिलने की बात थी । लार्ड रिपन ने अपने वचन के अनुसार उन्हें नौकरी की व्यवस्था करने को लिख दिया था ।

शिक्षा निदेशक महोदय को वह बात अच्छी नहीं लगी कि कोई नौकरी के लिए ऊपर से दबाव डलवाए । यह बात उन्होंने जगदीशचन्द्र से कह भी दी । उन्होंने यह भी कहा कि इस समय कोई अच्छी जगह खाली नहीं है । कोई छोटी-मोटी नौकरी चाहो तो मिल सकती है । पर इसके लिए जगदीशचन्द्र राज़ी नहीं हुए । वह अपनी योग्यता के अनुरूप ही स्थान चाहते थे । वायसराय के कहने पर भी तत्काल कोई नौकरी नहीं मिली ।

वायसराय महोदय को जब जगदीशचन्द्र को नौकरी दे देने की कोई सूचना नहीं मिली तो उन्होंने फिर पत्र लिखा । अब शिक्षा निदेशक के सामने कोई चारा नहीं था । उन्होंने जगदीशचन्द्र को विवश होकर नौकरी तो दे दी पर यह कोई पक्की नौकरी नहीं थी । कहा गया कि अच्छा काम करके दिखाओगे तो नौकरी पक्की हो जाएगी ।

जगदीशचन्द्र वसु की अस्थायी नियुक्ति प्रेसीडेंसी कॉलेज में भौतिक-विज्ञान के प्राध्यापक के रूप में हो गई । कॉलेज के प्रिंसिपल महोदय ने भी एक देसी

आदमी के विज्ञान का प्राध्यापक बनाए जाने पर नाक-मुंह सिकोड़ा। पर इससे अधिक वह कुछ कर नहीं सके, कर नहीं सकते थे।

समानता के अधिकार की लड़ाई

पचीस वर्ष की अवस्था में जगदीशचन्द्र वसु विज्ञान के प्राध्यापक बन गए। इनसे उम्र में दो-चार साल कम के छात्र थे। पुराने प्राध्यापकों का विचार था कि वह अनुभवहीन युवक प्राध्यापक उद्दण्ड छात्रों को संभाल नहीं सकेगा। उनकी यह शंका निराधार तो नहीं ही थी। कारण, इस कॉलेज के छात्र काफी ऊधमी थे। अगर जगदीशचन्द्र छात्रों को वश में नहीं कर पाते तो अधिकारियों को उन्हें हटाने का अच्छा बहाना मिल जाता।

जगदीशचन्द्र ने विज्ञान को प्रयोगों द्वारा पढ़ाने की रीति अपनायी, जिसके फलस्वरूप छात्र उनके प्रशंसक बन गए और रुचि से पढ़ने लगे। उनके छात्रों में अनुशासन की भावना पैदा हुई। वे मन लगाकर पढ़ने लगे। यह जगदीशचन्द्र वसु की पहली सफलता थी।

पर एक नया झमेला उठ खड़ा हुआ। अंग्रेज़ शासक सदा काले-गोरे में भेद करते थे। अंग्रेजों को सब जगह विशेष सुविधाएं दी जाती थीं। भारतीयों को

नीची नज़र से देखा जाता था। पहले तो किसी महत्त्वपूर्ण पद पर भारतीय को नियुक्त ही नहीं किया जाता। अगर नियुक्ति मिल भी जाती तो अंग्रेज़ों की तुलना में वेतन कम दिया जाता। इस भेद-भाव की नीति का सब जगह बोलबाला था। शिक्षा-विभाग भी इससे अछूता नहीं था।

जगदीशचन्द्र वसु के साथ भी यही भेदनीति बरती गई। एक तो वैसे ही एक ही कार्य के लिए भारतीयों को अंग्रेज़ों की तुलना में दो-तिहाई वेतन दिया जाता था। इस पर जगदीशचन्द्र वसु की नियुक्ति अस्थायी होने के कारण इस दो-तिहाई का भी आधा वेतन दिया गया। यों समझिए कि जिस कार्य के लिए अंग्रेज़ को तीन सौ रुपये मिलते, उसी के लिए भारतीय को दो सौ। और अस्थायी नियुक्ति के कारण इसका भी आधा मिला तो एक सौ हुआ। कहने का अभिप्राय: यह कि एक अंग्रेज़ प्राध्यापक के वेतन के तीसरे भाग जितना वेतन ही जगदीशचन्द्र वसु को मिलने की बात थी।

किसी भी स्वदेशाभिमानी और आत्माभिमानी व्यक्ति के लिए यह चुनौती थी। उन्होंने निश्चय किया कि वह इस भेद-भाव का विरोध करेंगे और वेतन स्वीकार नहीं करेंगे। उन्होंने जो निश्चय किया, उस पर दृढ़तापूर्वक डटे रहे और तरह-तरह की कठिनाइयां

सामने आने पर भी झुके नहीं। प्रतिमास उन्हें वेतन का चैक मिलता और वे लौटा देते। तीन वर्ष तक यही क्रम जारी रहा। पर इस बीच उन्होंने अपने कर्तव्य-पालन में ज़रा भी ढील नहीं दी। छात्रों में दिन-प्रति-दिन उनका सम्मान बढ़ता गया और वे अपनी ज्ञान-राशि को छात्रों तक पहुंचाने में प्रयत्नशील रहे।

शिक्षा-विभाग में नियुक्ति होने के डेढ़ साल बाद उनका विवाह श्री दुर्गामोहनदास की पुत्री अबला से हो गया। विवाह होने से उनकी ज़िम्मेदारी और बढ़ गई। हाथ तंग रहने लगा। घर की हालत भी अच्छी नहीं थी। विलायत की पढ़ाई का खर्च, उसके बाद विवाह का खर्च। भगवानचन्द्र वसु कर्ज के बोझ से दबे हुए थे। उन्होंने कई कामों में हाथ डाला था पर सभी में घाटा पड़ता रहा। तंगी के इन दिनों में कलकत्ता में महंगे किराये पर मकान लेकर रहना उनके वश के बाहर था। इसलिए हुगली नदी के पार चन्द्रनगर में सस्ते किराये का एक मकान उन्होंने ले रखा था। इतनी दूर आने-जाने में कठिनाई होती। इसलिए उन्होंने एक छोटी-सी नाव की व्यवस्था कर ली। वे स्वयं चप्पू मारकर नाव को लाते। उनकी पत्नी अबला वसु साथ होतीं। वह नाव को वापस खेकर ले जातीं। कई वर्ष यही क्रम चलता रहा। १८९० ई० में उन्होंने

कलकत्ता के मछुआ बाज़ार में मकान लिया। तब रोज़ नाव खेकर आने-जाने के झंझट से छुट्टी मिली।

जब तक उनकी मांग नहीं मानी गई, उन्होंने शिक्षा विभाग के चैक स्वीकार नहीं किये। अन्त में अधिकारियों को झुकना पड़ा। जगदीशचन्द्र वसु को तीन साल का पूरा वेतन एक साथ मिल गया। इस रुपये से घर का कर्ज चुकाने में बहुत सहायता मिली।

नौकरी पक्की हो गई। छात्र तो पहले से ही उन पर मुग्ध थे —उनकी विद्वत्ता पर, प्रयोग-सहित पढ़ाने की विधि पर और आत्म-सम्मान के लिए किसी के भी आगे न झुकने के संकल्प पर। अब उनके साथी प्राध्यापक, प्रिंसिपल और शिक्षा-विभाग के अधिकारी भी उन्हें मान गए। काले-गोरे के बीच पक्षपात दूर हुआ।

कुछ समय बाद उनके पिता भगवानचन्द्र वसु का देहान्त हो गया। इसके लगभग दो वर्ष बाद माता भी चल बसीं।

विज्ञान-साधना का प्रारम्भ

कॉलेज में छात्रों को विज्ञान की क्रियात्मक शिक्षा देने के लिए जो प्रयोगशाला थी, उसमें विशेष साज-सामान नहीं था। उससे जैसे-तैसे वह काम चला रहे

थे। नये-नये वैज्ञानिक उपकरणों की आवश्यकता थी। जगदीशचन्द्र वसु चाहते थे कि वैज्ञानिक खोजों का सूत्रपात किया जाए, पर पर्याप्त साधनों का अभाव था। उन्होंने अधिकारियों का ध्यान इस आवश्यकता की ओर दिलाया। अधिकारियों ने इस पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। यह सन् १८९३ के अंत की बात है। इस समय उनकी अवस्था पैंतीस वर्ष हो चुकी थी। उन्होंने निश्चय कर लिया था कि कठिनाइयों के होते हुए भी वे अपनी निजी प्रयोगशाला बनाएंगे। फिर क्या था, अपने घर पर उन्होंने प्रयोगशाला बनाने का निश्चय किया। उनके पास धन नहीं था, पर उनका निश्चय दृढ़ था। जो साधन उपलब्ध थे, उनसे प्रयोगशाला का सामान खरीदा जाने लगा। इस प्रकार एक छोटी-सी कामचलाऊ प्रयोगशाला बन सकी। ठीक ही कहा है कि महान् व्यक्तियों के कार्यों की सिद्धि साधनों पर नहीं, उनके ऊंचे व्यक्तित्व पर निर्भर करती है।

उन्होंने अपने काम लायक उपकरण अपनी देख-रेख में स्थानीय कारीगरों से बनवाने का निश्चय किया। उनका पहला यंत्र तैयार हो गया। यह यंत्र बिजली की तरंगों की खोज के लिए था। उन्होंने बिजली की चुम्बकीय तरंगों के गुणों का अध्ययन करना प्रारम्भ

किया। ये वे ही तरंगें थीं, जिनसे रेडियो द्वारा ध्वनि प्रसारित की जाती है। उस समय तक इन तरंगों को उत्पन्न करने या ग्रहण करने की कोई अच्छी विधि मालूम नहीं थी। इस काम के लिए वसु महोदय ने जो यंत्र बनाए थे, वे आकार में काफी छोटे थे और बहुत कम स्थान घेरते थे।

१८९५ ई० में एशियाटिक सोसायटी के जर्नल में उनका पहला लेख प्रकाशित हुआ। इस लेख का शीर्षक था, 'स्फटिक द्वारा विद्युत् किरण का ध्रुवीकरण'। एशियाटिक सोसायटी में उनका भाषण भी हुआ पर उपयुक्त यंत्रों के अभाव के कारण अपनी बात समझाने में उन्हें काफी कठिनाई हुई।

सन् १८९५ में वसु महोदय ने बिजली के संकेतों को ईथर के मार्ग से भेजने का प्रदर्शन, बंगाल के तत्कालीन गवर्नर की उपस्थिति में, कलकत्ता के टाउन-हॉल में करके दिखलाया। एक यंत्र के द्वारा उन्होंने बिजली की तारों के बिना, अदृश्य विद्युत् तरंगें पैदा करके उनसे दूसरे कमरे में रखी हुई बिजली की घंटी बजाकर दिखाई। एक भारी बोझ को सरकाया और विस्फोट करके दिखाया।

चुम्बकीय विद्युत् तरंगों द्वारा, बिना तारों के संदेश भेजने और कार्य करने का, विज्ञान जगत् में

यह पहला प्रदर्शन था।

उनकी खोजों से वैज्ञानिकों में हलचल मच गई।

इंग्लैंड में एक महत्त्वपूर्ण संस्था है। इसका नाम है रॉयल सोसायटी। यह संस्था विज्ञान को बढ़ावा देने के लिए विश्व-भर में प्रसिद्ध है। इस सोसायटी को जब जगदीशचन्द्र वसु की खोजों का पता लगा तो अधिकारियों ने वसु महोदय को उनकी खोजों का विवरण अपने जर्नल में प्रकाशित करने का आश्वासन दिया। रॉयल सोसायटी में किसी खोज के सम्बन्ध में लेख प्रकाशित होना बड़े गौरव की बात समझी जाती है। रॉयल सोसायटी ने उनकी सहायता करने का भी वचन दिया। इसी वर्ष उन्होंने बिजली के सम्बन्ध में दो शोधपूर्ण लेख और लिखे जो 'इलेक्ट्रीशियन' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुए।

अगले वर्ष १८९६ ई० में जगदीशचन्द्र वसु की इसी खोज पर लन्दन विश्वविद्यालय ने उन्हें 'विज्ञान का डाक्टर' की उपाधि प्रदान की।

बेतार विधि से संदेश भेजने के सम्बन्ध में जगदीशचन्द्र वसु ने अपदी खोज जारी रखी। बाद में एक प्रदर्शन में उन्होंने पचहत्तर फीट की दूरी तक बेतार से संदेश भेजकर दिखाया। वसु महोदय ने अपनी खोज छोटी लहर की तरंगों पर ही केन्द्रित

रखी । वे पांच मिलीमीटर की तरंगें पैदा कर सकने में भी सफल हुए । इस दिशा में पर्याप्त काम हो चुकने पर भी जो तरंगें पैदा की गईं, उनमें पांच मिलीमीटर की तरंगें सबसे छोटी थीं ।

जगदीशचन्द्र वसु के बेतार द्वारा संदेश भेजने के प्रदर्शन के कुछ समय बाद इटली के वैज्ञानिक मारकोनी ने इस विधि में सफलता प्राप्त कर ली ।

जगदीशचन्द्र वसु को कॉलेज में प्रतिदिन चार-पांच घंटे पढ़ाना पड़ता था । पढ़ाने के लिए पढ़ना भी पड़ता था । कुछ समय उसमें चला जाता । यही कारण था कि उनके छात्र उन पर जान देते थे । वे छात्रों की पढ़ाई का बहुत ध्यान रखते थे । इतनी प्रसिद्धि और सम्मान मिल जाने पर भी शिक्षा-विभाग के अधिकारी उन्हें कोई सुविधा देने के लिए तैयार नहीं थे । वे खोज के कार्य को ज़रा भी प्रोत्साहित नहीं करते थे ।

लन्दन विश्वविद्यालय से साइंस के डाक्टर की उपाधि मिलने, रॉयल सोसायटी द्वारा सम्मानित किए जाने और ब्रिटिश पार्लियामेंट से विज्ञान में खोज के लिए दी जाने वाली आर्थिक सहायता से भारत में भी उनके कार्य के महत्त्व को स्वीकारा जाने लगा । बंगाल सरकार के शिक्षा-विभाग की नींद भी खुली । यह तय

हुआ, कि वसु महोदय को शोध-कार्य के लिए सहायता दी जाए। पर सहायता मिलने में पूरे दो वर्ष लग गए।

उधर कॉलेज की प्रयोगशाला में कुछ साज-सामान बढ़ाने के लिए वे शुरू से ही अधिकारियों पर ज़ोर डाल रहे थे। शिक्षा-विभाग ने पूरे दस वर्ष बाद इस कार्य के लिए सहायता दी। उन दिनों विदेशी सरकार का भारतीयों के प्रति ऐसा ही रवैया था। इस बात की पूरी संभावना थी कि यदि रॉयल सोसायटी और ब्रिटिश पार्लियामेंट उनके कार्य के महत्त्व को स्वीकृति न देते तो बंगाल सरकार भी सहायता न करती।

बंगाल सरकार के एक उच्च अधिकारी जगदीश-चन्द्र वसु को खोज के लिए सुविधाएं और बढ़ावा देना चाहते थे। उनके प्रयत्न से ऐसा तय हुआ कि वसु महोदय को पढ़ाई के कार्य से मुक्त कर दिया जाए ताकि वे अपना सारा समय खोज के काम में लगा सकें। और इसके लिए कॉलेज में एक नया पद — अन्वेषण के प्राध्यापक का पद स्थापित किया जाए। पर बात सिरे नहीं चढ़ सकी। इसका एक कारण था, जगदीशचन्द्र वसु कलकत्ता विश्वविद्यालय की सीनेट के सदस्य थे। विदेशी शासक चाहते थे कि वसु महोदय सरकार की सभी नीतियों का समर्थन करें। स्वतंत्र विचार-बुद्धि वाले जगदीशचन्द्र वसु ऐसा कैसे

कर सकते थे ! वे जब अभी पचीस वर्ष के थे और कॉलेज में लगे ही थे, तब भी उन्होंने भेद-भाव की नीति के विरुद्ध अधिकारियों से टक्कर ली थी । इस समय तो वे चोटी के वैज्ञानिक माने जाते थे और उनकी प्रसिद्धि देश-विदेश में फैल चुकी थी । उनकी इस स्वतंत्र विचारशीलता से अंग्रेज़ अधिकारी चिढ़ गए । परिणाम यह हुआ कि अन्वेषक के पद का प्रस्ताव रद्द हो गया । इससे उन्हें खोज-कार्य के लिए जो समय की सुविधा मिलने वाली थी, वह नहीं मिली । पर स्वतन्त्र विचार के अपने अधिकार को बेचकर अपने लिए सुविधा प्राप्त करना उन्होंने स्वीकार नहीं किया । अब क्या किया जाए ? सारा समय तो कॉलेज की नौकरी में लग जाता, वैज्ञानिक खोज का काम हो नहीं पाता । उन्होंने निश्चय किया कि कॉलेज से लम्बी छुट्टी ले ली जाए । सो एक वर्ष की छुट्टी ले ली ।

बिजली की तरंगों का अध्ययन करते समय एक महत्त्वपूर्ण बात वसु महोदय के ध्यान में आयी । बिजली की धारा का स्पर्श करते ही प्राणियों को धक्का लगता है । इसका अर्थ हुआ कि बिजली की धारा से हमारे अंगों में एक प्रकार की गति उत्पन्न हो जाती है । वसु इस परिणाम पर पहुंचे कि बिजली की धारा के स्पर्श से इस प्रकार की गति केवल प्राणियों में ही नहीं,

निर्जीव और जड़ पदार्थों में भी उत्पन्न हो जाती है। इससे जड़ और चेतन की एकता पर उनका ध्यान गया। उन्होंने इसका अध्ययन और परीक्षण प्रारम्भ किया। परीक्षणों से पता चला कि तरंग को ग्रहण करने वाले द्रव्यों में कुछ समय तक बराबर काम करते रहने से थकान-सी आ जाती है। उन द्रव्यों की तरंग ग्रहण करने की शक्ति धीरे-धीरे कम होती जाती है। परन्तु यदि उन्हें कुछ देर सुस्ताने दिया जाए, उन पर काम न किया जाए तो उनकी शक्ति फिर लौट आती है। वे इसकी बारीकी से छान-बीन करते रहे।

रॉयल सोसायटी में भाषण

१८९७ ई० में वे अपने बनाए यंत्रों को लेकर इंग्लैंड गए। वहां रॉयल सोसायटी में भाषण देने का सम्मान आपको मिला। रॉयल सोसायटी के सामने अपने अनुसन्धानों के बारे में भाषण देने का अवसर मिलना वैज्ञानिकों के लिए बड़े सम्मान की बात समझी जाती है। डा० वसु को तीन बार यह सम्मान मिला।

सबसे पहले १८९७ में आपने वहां बिजली की तरंगों पर भाषण दिया। उनके भाषण और प्रदर्शन को सारे विज्ञान-जगत् ने सराहा। विशेष रूप से उनके यंत्रों की बड़ी प्रशंसा की गई। सभी ने उन्हें मुक्त

कंठ से सराहा। वे कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि विज्ञान और तकनीकी ज्ञान में पिछड़े हुए भारत देश में इस तरह के सूक्ष्म यंत्र बनाए जा सकते हैं।

इन यन्त्रों द्वारा बेतार के संदेश भेजने के सफल प्रदर्शन के साथ उन्होंने यह भी सिद्ध कर दिखाया कि बिजली की तरंगों में प्रकाश की किरणों जैसे गुण भी विद्यमान हैं।

वृक्षों में आत्मा

पीछे जड़-चेतन सभी में एकता की बात का उल्लेख हुआ है। छान-बीन के बाद डॉ० वसु इस परिणाम पर पहुंचे कि सभी पदार्थों में एक-सा ही जीवन-प्रवाह विद्यमान है। प्राणियों की तरह ही जड़ पदार्थ भी थकते हैं, सोते हैं, नशीली चीज़ों से मदमत्त होते हैं, चंचल होते हैं और विष के प्रभाव से मूर्च्छित होते हैं और मर भी जाते हैं। उन्हें भूख लगती है, गर्मी-सर्दी का प्रभाव भी पड़ता है।

इस नये और महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक सिद्धान्त के प्रतिपादन में डॉ० वसु दत्तचित्त होकर कार्य करने लगे। इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि बिजली की तरंगों सम्बन्धी उनका खोज-कार्य रुक-सा गया। उनकी सारी शक्ति जड़-चेतन में प्रवाहित जीवन-प्रवाह की

प्रत्यक्ष कर दिखाने में लगने लगी। भौतिक जगत् और आध्यात्मिक जगत् के बीच समन्वय स्थापित करने का यह कार्य भारतीय ऋषियों की परम्परा का ही नये सिरे से और वैज्ञानिक पद्धति से अनुसरण था। भारतीय चिन्तन की सदा से यह विशेषता रही है कि वह विभिन्नता में एकता के सूत्रों की खोज करता रहा है। जगदीशचन्द्र वसु आधुनिक युग के ऋषि हैं, तत्त्वदर्शी मनीषी हैं। उन्होंने समस्त जगत् में एक चेतन सत्ता का साक्षात्कार किया था।

इंग्लैंड में लार्ड कैल्विन, आलिवर लाज, रेले, टॉमसन और लिपमैन आदि विख्यात वैज्ञानिक डॉ० वसु के प्रयोगों और यंत्रों को देखकर चकित रह गए। डा० वसु से कुछ वैज्ञानिकों ने अनुरोध किया कि वे लन्दन में रहकर अपना शोधकार्य करें। उन्हें सभी सुविधाएं देने की बात भी कही गई। पर डॉ० वसु ने लन्दन का जलवायु स्वास्थ्य के अनुकूल न होने का बहाना करके उन्हें टाल दिया। सच बात यह थी कि वे अपनी भारत भूमि को छोड़ना नहीं चाहते थे। उनका तन-मन इस देश की मिट्टी से रचा-बसा था और वे इस देश को हृदय से प्यार करते थे। वे कुछ सुख-सुविधाओं के लिए अपनी मातृभूमि को छोड़ना उचित नहीं समझते थे।

आज हम देखते हैं कि हमारे देश के कितने ही वैज्ञानिक अधिक वेतन और सुख-सुविधाओं के प्रलोभन में विदेशों में कार्य कर रहे हैं। इस समय भारत को उनकी सेवाओं की बड़ी आवश्यकता है। भारत ज्ञान-विज्ञान की दौड़ में पश्चिम की अपेक्षा पिछड़ा हुआ देश है। इस समय इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि इस दौड़ में हम प्रगतिशील देशों के साथ कदम मिलाकर चल सकें। यह तभी हो सकता है जबकि हम उन देशों से भी अधिक काम कर दिखाएं। परन्तु राष्ट्रीय चेतना की कमी के कारण हमारे देश के युवा वैज्ञानिकों की प्रतिभा का लाभ देश को नहीं मिल रहा है। भारत सरकार इस सम्बन्ध में प्रयत्न-शील है कि विदेशों में शिक्षा पाने के बाद हमारे युवा वैज्ञानिक अपने देश की उन्नति में सहायक बनें। देश-प्रेम ही वह शक्ति है जो मनुष्यों को कष्ट झेलकर भी दूसरे देशों की अपेक्षा अपने देश की सेवा करने में लगाती है। देश के गौरव से उस देश के वासियों में गौरव बढ़ता है। देश के हित में यदि हमें अपने लाभ को त्यागना भी पड़े तो इसके लिए प्रत्येक देशवासी को तैयार रहना चाहिए।

लन्दन में डा० वसु ने अपनी खोजों के सम्बन्ध में कई व्याख्यान दिये। चारों ओर उनकी प्रशंसा होने

लगी। विज्ञान-जगत् में इस नये नक्षत्र के उदय से चकाचौंध फैल गई।

दो युगपुरुषों की मैत्री

कोई सवा वर्ष लन्दन में रहकर १८९६ में डॉ० वसु स्वदेश लौट आए।

कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर और डॉ० जगदीश-चन्द्र वसु में बड़ी गहरी मित्रता थी। एक युग-प्रवर्तक कवि और दूसरा युग-प्रवर्तक वैज्ञानिक। ऊपर से लगता है कि कवि और वैज्ञानिक में कोई मेल नहीं है। पर गहराई से सोचें तो यह सच नहीं है। कवि भाव-जगत् में सत्य का साक्षात्कार करता है और वैज्ञानिक वस्तु-जगत् में। दोनों ही सत्य के साधक हैं। एक बात और भी थी। डॉ० वसु की ख्याति विज्ञानाचार्य के रूप में हुई थी। पर उनकी प्रतिभा की सीमा विज्ञान तक ही नहीं थी। साहित्य में भी उनकी विशेष रुचि और प्रवृत्ति थी। बंगला साहित्य को उनकी देन स्मरणीय है। बंगला में उन्होंने 'अव्यक्त' नामक पुस्तक लिखी थी, जिसे आलोचकों ने बहुत सराहा था। यह पुस्तक उन्होंने रवीन्द्रनाथ को समर्पित की थी।

समर्पण के शब्द थे :

मित्र,

तुम्हारे चारों ओर मेरे सुख-दुःख के वर्षों की स्मृतियां जुड़ी हुई हैं। आज मैं तुम्हारे दिवाकर-तुल्य प्रकाश-पुंज में अपने जुगनू की टिमटिमाहट भेज रहा हूं।

तुम्हारा
जगदीश वसु

फोटोग्राफी डॉ० वसु का शौक था। तीर्थयात्रा भी उनका मनपसन्द कार्य था। इन यात्राओं में वे अपने कैमरे को साथ रखते थे। चित्रकला में उनकी गहरी पैठ थी। उनके समकालीन प्रख्यात कलाकारों, गगनेन्द्रनाथ ठाकुर, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर और नन्द-लाल वसु, की चित्रकला के वे बड़े प्रशंसक थे। इन कलाकारों के चित्रों से उन्होंने अपनी बैठक और प्रयोगशाला को सजा रखा था।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर और जगदीशचन्द्र वसु की मित्रता तभी से थी, जब वे देश-देशान्तर में विख्यात नहीं हुए थे। दोनों ने एक-दूसरे में छिपी महानता को पहचाना था और एक-दूसरे के निकट आए थे।

इस मित्रता के सम्बन्ध में एक जगह रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस प्रकार लिखा है :

"हमारी अवस्था तब कम ही थी। आगामी

जीवन प्रभात के कुहरे-जैसा धुंधला किन्तु रंग-बिरंगा था। इन्हीं दिनों जगदीशचन्द्र वसु से मेरी प्रथम भेंट हुई। वह अभी उन्नति के शिखर पर नहीं पहुंचे थे। सूर्योदय की दिशा से सीधी चढ़ाई चढ़ते हुए वह ऊपर चढ़ रहे थे। यश-रूपी सूर्य ने अभी अपनी किरण-राशि से उनकी सफलता को प्रकाश से उज्ज्वल नहीं किया था। अभी भी अनेक रुकावटें थीं...सुख-दुःख के देवासुर मिलकर जगदीशचन्द्र वसु की युवा शक्ति का मंथन कर रहे थे। इस मंथन के फलस्वरूप अमृत-घट निकलने वाला था। इसी समय मैं उनके निकट आया।"

यह मित्रता दोपहर बाद की छाया की तरह दिनों-दिन बढ़ती गई, बढ़ती ही गई।

दूसरी विदेश-यात्रा : विज्ञान कांग्रेस पेरिस में

सन् १९०० में रॉयल सोसायटी की ओर से उन्हें फिर लन्दन आने और सोसायटी में व्याख्यान देने का निमंत्रण मिला। वहां के वैज्ञानिक डॉ० वसु की खोजों और उनके द्वारा बनाए यंत्रों-उपकरणों को देखने के लिए उत्सुक थे।

इन्हीं दिनों फ्रांस की राजधानी पेरिस में विज्ञान-

कांग्रेस का सम्मेलन होने वाला था। इस सम्मेलन के अवसर पर वैज्ञानिक आविष्कारों की प्रदर्शनी का भी आयोजन किया गया था।

विज्ञान-कांग्रेस के संयोजकों ने भी डॉ० वसु को सम्मेलन में भाग लेने के लिए निमंत्रिण किया। भारत की तत्कालीन अंग्रेज़ सरकार ने डॉ० वसु के विज्ञान-कांग्रेस में भाग लेने में पहले तो अड़चनें डालीं, किंतु बाद में स्वीकृति दे दी।

डॉ० वसु ने भारतीय प्रतिनिधि के रूप में विज्ञान-कांग्रेस में भाग लिया। प्रदर्शनी में उन्होंने अपने उपकरण भी प्रदर्शनाथ रखे।

विज्ञान-कांग्रेस में उनका व्याख्यान हुआ। इससे डॉ० वसु की ख्याति और भी बढ़ गई। अपनी आश्चर्य-जनक खोजों के कारण उन्हें 'पूर्व का जादूगर' कहा जाने लगा।

मानव-जीवन और वनस्पति-जोवन दोनों एक ही नियम से बंध हुए हैं, यह उन्होंने प्रमाणित किया। डा० वसु ने सिद्ध किया कि चेतन प्राणियों और लोहा-पत्थर आदि जड़-पदार्थों के बीच की कड़ी है—वनस्पति जगत्। वनस्पति उगते हैं, बढ़ते हैं, फलते-फूलते हैं। वे अपने बीजों से अपने-जैसे वृक्ष उत्पन्न करते हैं। वातावरण का प्रभाव उन पर भी वैसा ही पड़ता है,

जैसा प्राणियों पर। काटने पर उन्हें भी पीड़ा होती है और वे छटपटाते भी हैं। पर उनके भीतर की प्रति-क्रिया को हम देख नहीं पाते। पेड़-पौधों की प्रतिक्रिया और वृद्धि को नापने के लिए उन्होंने बड़े ही बारीक यंत्र बनाए थे। एक यंत्र की सहायता से किसी भी गति के स्पन्दन को एक करोड़ गुणा बढ़ाकर दिखाया जा सकता था। इस यंत्र का नाम था, 'मैगनेटिक क्रेस्को-ग्राफ'।

एक दूसरा यंत्र जिसका नाम 'रेजीनेट रेकार्डर' था, एक सेकंड के हज़ारवें भाग तक के समय को अंकित कर देता था।

इन्हीं दिनों स्वामी विवेकानन्द भी पेरिस पधारे हुए थे। यहां धर्मेतिहास सभा में उनका व्याख्यान हुआ। हिन्दू-धर्म के इतिहास पर उन्होंने यथोचित प्रकाश डाला। यहां अनेक धर्माचार्यों और वैज्ञानिकों से स्वामी जी का परिचय हुआ। डॉ० जगदीशचन्द्र वसु से भी यहीं उनका परिचय हुआ। भारत माता की गौरव-पताका को देश-देशान्तर में फहराने वाले दोनों अर्वाचीन ऋषियों ने एक-दूसरे के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की। डॉ० वसु के सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द ने अपनी पुस्तक 'परिव्राजक' में लिखा है :

"आज २३ अक्टूबर है और कल सायंकाल पेरिस

से विदा ! इस वर्ष यह पेरिस सभ्य जगत् का एक केन्द्र है। इस वर्ष यहां महाप्रदर्शनी हुई। अनेक देशों से आए सज्जनों का संगम हुआ। आज इस पेरिस में देश-देशान्तरों के मनीषियों ने अपनी-अपनी प्रतिभा प्रकट कर स्वदेश की महिमा का विस्तार किया है। महाकेन्द्र की भेरि-ध्वनि आज जिनके नाम का उच्चारण करेगी, यह नादतरंग साथ ही साथ उनके स्वदेश को भी गौरवान्वित करेगी। और मेरी जन्मभूमि—इस जर्मन, फ्रांसीसी, अंग्रेज, इटैलियन आदि विद्वन्मण्डली द्वारा शोभित महानगरी में तुम कहां हो, भारत-भूमि ? कौन तुम्हारा नाम लेता है ? कौन तुम्हारे अस्तित्व की घोषणा करता है ? इन अनेक विद्वानों के बीच जिस एकमात्र युवा यशस्वी वीर ने हमारी मातृभूमि के गौरव की घोषणा की है, वह वीर है विश्वविख्यात वैज्ञानिक डॉ० जगदीशचन्द्र वसु ! अकेले इस भारतीय युवक वैद्युतिक ने आज बिजली के वेग से पाश्चात्य जगत् को अपनी प्रतिभा की महिमा से मुग्ध कर दिया है। बिजली के इस संचालक से मातृभूमि के मृतप्राय शरीर में नवजीवन तरंग का संचार हुआ है। सारी वैद्युतिक मण्डली के शिरोमणि हैं डॉ० वसु, भारतवासी…श्री वसु तथा उनकी सती-साध्वी, सर्वगुणा-सम्पन्ना धर्मपत्नी जिस ओर जाते हैं,

वहीं भारत के मुख को उज्ज्वल करते हैं…”

पेरिस की विज्ञान-कांग्रेस में भाग लेने के बाद डॉ० वसु लन्दन पहुंचे। वहां दूसरी बार रॉयल सोसायटी में उनका व्याख्यान हुआ। उन्होंने प्रयोगों द्वारा अपनी बात को प्रमाणित करके दिखाया पर रॉयल सोसायटी ने इन प्रयोगों की प्रामाणिकता पर सन्देह प्रकट किया। सोसायटी ने उनके निबन्ध को प्रकाशित करने से भी इनकार कर दिया।

अपने विरोधियों को मुंहतोड़ उत्तर देते हुए डॉ० वसु ने कहा :

‘विज्ञान की प्रगति के बारे में यह कहना कि वह यहां तक हो और इसके आगे न हो, बड़ी विचित्र बात है। यह तो अवैज्ञानिक दृष्टिकोण है। जहां तक मेरे परीक्षणों का सम्बन्ध है, मैं उनके विरुद्ध तब तक कोई भी बात मानने को तैयार नहीं हूं, जब तक वैज्ञानिक ढंग से उनका खण्डन नहीं किया जाता।”

उन पर एक झूठा आरोप और लगाया गया। कहा गया कि यह कोई नई खोज नहीं है। एक और वैज्ञानिक इस खोज के सम्बन्ध में अपने निबन्ध को पहले ही प्रकाशित कर चुका है। उसका निबन्ध १९०१ के नवम्बर में प्रकाशित हुआ था। पर डॉ० वसु तो

इससे पांच मास पूर्व ही इस विषय पर अपना व्याख्यान दे चुके थे। सौभाग्य से, दो प्रमुख वैज्ञानिक जो रायल सोसायटी के भी सदस्य थे, उससे भी पूर्व फरवरी में ही उनके निबन्ध को पढ़ चुके थे। अंत में सत्य की ही विजय हुई। यह मान लिया गया कि इस खोज का श्रेय डॉ० वसु को ही है।

इंग्लैंड के कुछ वैज्ञानिकों द्वारा उनका विरोध करने का एक कारण था। डॉ० वसु की खोजों के कारण जो नए सिद्धान्त स्थापित हुए, उनसे अनेक वैज्ञानिकों द्वारा स्थापित मान्यताओं का खण्डन होता था। जिनके सारे किये-धरे पर पानी फिर रहा था, वे उनका विरोध क्यों न करते! विरोधियों के प्रमुख थे, सर जान बरडन सैंडर्सन। वह शरीर-क्रिया-विज्ञान के पंडित माने जाते थे। उन्होंने कहा था, "यह बड़े खेद की बात है कि डॉ० वसु अपने भौतिक-विज्ञान के क्षेत्र को छोड़कर शरीर-क्रिया-विज्ञान के क्षेत्र में दखल दे रहे हैं। डॉ० वसु ने जो यह कहा है कि वनस्पति भी प्रतिक्रिया करते हैं, यह ठीक नहीं है। वनस्पतियों का प्रतिक्रिया करना असम्भव है। क्योंकि मैंने वर्षों इसे जानने का यत्न किया किन्तु मैंने वनस्पतियों में कभी कोई प्रतिक्रिया नहीं पायी।"

पर डॉ० वसु ने विरोधियों की सारी आपत्तियों

को अस्वीकार कर दिया और वैज्ञानिक ढंग से खण्डन करने की चुनौती दी, जिसे वे कभी भी पूरा नहीं कर सके ।

वैज्ञानिकों के इस पक्षपातपूर्ण और अवैज्ञानिक रवैये से डॉ० वसु का मन यद्यपि क्षुब्ध हुआ पर वे हताश नहीं हुए । महामानवों की यह विशेषता होती है कि वे विघ्न-बाधाओं की परवाह न करते हुए हाथ में लिए हुए कार्य को पूरा करके ही छोड़ते हैं ।

सच तो यह है कि इस विरोध ने डॉ० वसु में नई शक्ति का संचार किया । वे दूने-चौगुने उत्साह के साथ अपने कार्य में जुट गए । उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया कि पेड़-पौधों में भी अन्य प्राणियों के समान ही मज्जा-तंतु, धमनियां और हृदय होता है ।

इंग्लैंड में रॉयल सोसायटी के भीतर और बाहर जब कुछ वैज्ञानिक डॉ० वसु का विरोध कर रहे थे, तो वहां की एक दूसरी विज्ञान-संस्था 'लीनिएन सोसायटी' ने उन्हें अपने यहां व्याख्यान देने के लिए निमंत्रित किया । ब्रिटिश एसोसिएशन से भी उन्हें व्याख्यान देने के लिए निमंत्रण मिला । उनके निबन्धों को प्रकाशित करने का आग्रह भी लीनिएन सोसायटी ने किया ।

सोसायटी के अध्यक्ष और सचिव ने डॉ० वसु

की खोजों को बार-बार सराहा और यह स्वीकार किया कि इन खोजों के अनुसन्धाता वे ही हैं, उनके निबन्धों की नकल करके छापने वाला झूठा है।

इस बार डॉ० वसु से फिर अनुरोध किया गया कि वे इंग्लैंड में प्रोफेसर का पद ग्रहण करें और यहीं रह जाएं। पर डॉ० वसु तो अपने देश में रहकर कार्य करने के लिए कृतनिश्चय थे। उन्होंने नम्रतापूर्वक इसे अस्वीकार कर दिया।

सन् १९०२ में यूरोप में भारत की विजय-पताका फहराकर वे स्वदेश लौट आए।

लगभग पांच वर्ष बाद उन्होंने फिर यूरोप की यात्रा की। पहले वे इंग्लैंड गए। वहां से अमरीका। कई जगह उनके व्याख्यान हुए। यंत्रों-उपकरणों की सहायता से उन्होंने अपनी खोजों पर प्रकाश डाला। सभी जगह उनका स्वागत हुआ और वैज्ञानिकों में प्रतिष्ठा बढ़ी। विज्ञान की जिस नई शाखा को उन्होंने जन्म दिया था, अमेरिकी वैज्ञानिकों ने उसमें शोध-कार्य प्रारम्भ दिया। सन् १९०९ में वे इस यात्रा से भारत लौट आए।

स्वदेश में अभी भी स्थिति ज्यों की त्यों बनी हुई थी। कॉलेज में पूरा समय देना पड़ता था। उनकी

अवस्था भी पचास से ऊपर हो चली थी। खोज का कार्य जारी था, और बहुत काम करने को पड़ा हुआ था। कई उपकरण निर्माणाधीन थे। जब तक ये उपकरण पूरे नहीं हो जाते, अपनी बात दूसरों को समझाने में कठिनाई थी। विज्ञान में तो प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना जाता है। वे फिर काम में जुट गए। शरीर से बहुत अधिक काम लेने के कारण उनका स्वास्थ्य कोई बहुत अच्छा तो नहीं कहा जा सकता था। पर वे अकेले ही, स्वयं-स्वीकृत विज्ञान-मार्ग पर दृढ़ता के साथ कदम बढ़ाते हुए चलते रहे। ऐसे यात्रियों के लिए कहीं कोई पड़ाव नहीं होता। सीढ़ी दर सीढ़ी ऊपर चढ़ना ही उनका लक्ष्य होता है। प्रकृति के अनन्त रहस्यों में से जितना जाना जा सके, उतना ही थोड़ा। और फिर वैज्ञानिक की जिज्ञासा तो अनन्त होती है। वह जितना ही जानता जाता है, उतना ही उसे अपना अज्ञान सामने दिखाई देता है।

नये उपकरणों का आविष्कार

मनुष्य अपने सुख-दुःख को भाषा द्वारा प्रकट करता है। पशु-पक्षी यद्यपि कोई भाषा नहीं जानते, फिर भी तरह-तरह की आवाज़ों द्वारा अपना सुख-दुःख प्रकट करते हैं।

परन्तु वृक्ष तो गूंगे और लूले हैं। इसलिए वनस्पति-सम्बन्धी खोजों में डॉ० वसु के सामने मुख्य कठिनाइयां निम्नलिखित थीं :

१. ऐसे उपायों की कमी, जिनके माध्यम से वृक्ष अपने भीतर की बात प्रकट करने के लिए विवश हों।

२. ऐसे उपकरणों का अभाव, जो वृक्ष के भीतर की क्रिया-प्रतिक्रिया को अंकित कर सके।

३. जीवित प्राणियों के भीतरी अंगों से कर्मेन्द्रियों के बाहरी आकार को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देना और कार्यविधि की उपेक्षा करना।

इन कठिनाइयों से पार पाने के लिए वसु महोदय ने अनेक प्रयत्न किए। कई उपकरण बनाए।

पौधों के हृदय की गति, उनकी संवेदनशीलता और वृद्धि के मापने के लिए विभिन्न उपकरणों का निर्माण किया। इनकी सहायता से पौधे अपनी कहानी सुनाने लगे। एक तरह से गूंगे को ज़बान मिल गई। अब तो कष्ट मिलने पर पौधों का रोना और सुख मिलने पर प्रसन्न होना भी इन यंत्रों से सुना और देखा जाने लगा।

यहां एक मनोरंजन कहानी सुनिये।

एक बार वे पेरिस में साधारण नागरिकों के

बीच प्रयोग-सहित व्याख्यान देने वाले थे । वे यह दिखाना चाहते थे कि विष का पौधों पर भी वैसा ही प्रभाव पड़ता है, जैसा प्राणियों पर । जब वे व्याख्यान देने के लिए साज-सामान को देख-भाल करने लगे तो पता चला कि विष की शीशी खाली है । जिस भद्र महिला के यहां वे ठहरे हुए थे, उससे उन्होंने पास के किसी दवाई बेचने वाले का पता पूछा । इस महिला ने कहा कि आप एक कागज़ पर दवाई का नाम लिख दीजिये और मैं अपनी नौकरानी से मंगवा देती हूं । डॉ० वसु ने कागज के एक टुकड़े पर 'पोटाशियम साइनाइट' का नाम लिख दिया । यह विष इतना तीव्र होता है कि तिलभर खा लेने से भी मृत्यु हो सकती है । नौकरानी ने दवाई के नाम का कागज दुकानदार की ओर बढ़ाया और लिखी दवाई देने के लिए कहा। यह दुकानदार जानता था कि यह नौकरानी किसकी है । उसकी मालकिन बड़ी सम्पन्न और प्रतिष्ठित महिला थी । दुकानदार ने समझा कि इसकी मालकिन किसी घरेलू झगड़े या अन्य किसी कारण से विष खाकर आत्महत्या करना चाहती है । इसलिए उसने 'पोटाशियम साइनाइट' न देकर दानेदार चीनी दे दी। दोनों के आकार में काफी समानता होती है । डॉ० वसु यह दवा लेकर व्याख्यान देने चल दिये ।

व्याख्यान के बीच विष का प्रभाव दिखाने के लिए जब उन्होंने पौधे पर विष का प्रयोग किया तो पौधा मुरझाने के बदले, अधिक चेतन हो उठा। यह बात उनके यंत्रों ने कई गुणा बढ़ाकर अंकित कर दी। अब डॉ० वसु चकित हुए कि बात क्या है! पर सारे मामले को समझने में उन्हें तनिक भी देर नहीं लगी। उन्हें अपने सिद्धान्तों और यंत्रों पर इतना विश्वास था कि उन्होंने श्रोताओं के सामने घोषणा कर दी कि यह विष नहीं, कोई पोषक पदार्थ है। इतना ही नहीं, उन्होंने निर्भय होकर विष नाम से खरीदी हुई इस चीज़ को चख लिया। तब उन्होंने मधुर मुसकान के साथ घोषणा की कि यह विष नहीं, चीनी है। संयोग की बात, वह दवाई बेचने वाला भी श्रोताओं में बैठा हुआ था। वह उठा और डॉ० वसु के पास पहुंचा। उसने पोटाशियम देने के बदले चीनी देने का कारण बताया तो सारे श्रोता ठहाका मारकर हंस पड़े।

० ० ०

दस-बारह वर्ष के परिश्रम के बाद सन् १९११ में उनका पहला महत्त्वपूर्ण तंत्र बनकर तैयार हुआ। इसका नाम था 'रेजोनेंट रिकार्डर'। इस यंत्र के द्वारा वनस्पतियों के स्नायुओं में होने वाली उत्तेजनाओं का पता चल जाता था।

सन् १९१४ में उनका दूसरा आश्चर्यजनक यंत्र तैयार हो गया। यह था 'आस्किलेटिंग रिकार्डर'। इसके द्वारा बहुत छोटे वनस्पतियों के सूक्ष्म अवयवों में जीवन के स्पन्दन का अंकन संभव हो गया।

इसी बीच उन्होंने कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकों की रचना भी की। इन पुस्तकों के प्रकाशित होने से सब जगह उनकी खोजों और सिद्धान्तों की चर्चा होने लगी। अनेक देशों के विश्वविद्यालयों से व्याख्यान देने के निमंत्रण आने लगे।

सन् १९१४ में डॉ० वसु फिर छुट्टी लेकर यूरोप की वैज्ञानिक यात्रा पर निकले। इस बार अपने आविष्कृत यंत्रों के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट पौधे भी वे अपने साथ लेते गए। पौधों को सुरक्षित रखने के लिए जहाज़ में विशेष प्रबन्ध किया गया। लन्दन पहुंचने पर इन पौधों की सुरक्षा के लिए ताप की विशेष व्यवस्था की गई।

इस बार डॉ० वसु ने ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय, कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय और रॉयल इंस्टीट्यूट की सभा के अतिरिक्त रॉयल सोसायटी में भी व्याख्यान दिये। उनके अपने बनाए यंत्र साथ थे ही, उनके द्वारा अपनी बातों को प्रमाणित करके दिखाया।

लन्दन से वे पेरिस गए, फिर वियना और आस्ट्रिया। यहां से वे जर्मनी जाने वाले थे पर इन्हीं

दिनों प्रथम विश्वयुद्ध के बादल मंडराने लगे जिससे उन्हें अपनी जर्मनी की यात्रा स्थगित करनी पड़ी। अब वे जर्मनी न जाकर अमरीका गए। अमरीका के अनेक विश्वविद्यालयों—हारवर्ड, कोलंबिया, शिकागो तथा विज्ञान की संस्थाओं ने उनका सम्मान किया।

इस यात्रा से डॉ० वसु का यश तथा प्रभाव और बढ़ा। राष्ट्र संघ (लीग ऑफ नेशन्स) ने उन्हें वैज्ञानिक कार्यों की एक विशेष समिति का सदस्य मनोनीत किया। इस समिति के अधिवेशन प्रतिवर्ष जिनेवा में होते थे। डॉ० वसु प्रायः प्रति वर्ष इन् अधिवेशनों में भाग लेने जाने लगे।

इस समिति में संसार-भर के अनेक वैज्ञानिक भाग लेते थे। डॉ० वसु का वैज्ञानिकों के साथ परिचय और सम्पर्क बढ़ता गया।

सन् १९१५ में जब डॉ० वसु विदेश-यात्रा से लौटे तो स्वदेश में जगह-जगह उनका स्वागत और अभिनन्दन हुआ।

कलकत्ता विश्वविद्यालय ने उन्हें साइंस के डॉक्टर की उपाधि से सम्मानित किया। लाहौर-स्थित पजाब विश्वविद्यालय ने व्याख्यान देने के लिए निमंत्रण भेजा। डॉ० वसु के अवकाश-ग्रहण से कुछ समय पहले अधिकारियों का ध्यान अपनी इस भूल की ओर गया

कि उनको जो वेतन मिल रहा था, वह कम था। नियमानुसार उन्हें सबसे ऊंचे वेतनमान के अनुसार वेतन मिलना चाहिए था। यह निश्चय हुआ कि ऊंचे वेतनमान के अनुसार उन्हें पिछली सारी राशि दे दी जाए। ऐसा होने से उन्हें एक बड़ी धनराशि एक साथ मिल गई। इस धन से बाद में 'वसु विज्ञान मन्दिर' की स्थापना में उन्हें सुविधा हुई।

जीवन में नया मोड़

सन् १९१५ में प्रेसिडेंसी कॉलेज में उन्हें काम करते तीस वर्ष पूरे हो गए। कॉलेज की नौकरी पूरी हुई। यद्यपि दो वर्ष पूर्व सन् १९१३ में ही पचपन वर्ष की अवस्था हो जाने पर उन्हें अवकाश ग्रहण करना चाहिए था, परन्तु कॉलेज के अधिकारियों ने उनका कार्य-काल दो वर्ष बढ़ा दिया था। व सेवा-मुक्त हो गए।

कॉलेज के प्रबन्धकों ने डॉ० वसु को अवैतनिक प्राध्यापक का पद देकर सम्मानित किया। कॉलेज की प्रयोगशाला का स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग करने की छूट उन्हें दी गई।

सन् १९१६ में बंगाल सरकार ने उनका सार्वजनिक अभिनन्दन किया और अगले वर्ष 'सर' की उपाधि

प्रदान की। भारत सरकार पहले ही उन्हें सी०आई०ई० की उपाधि देकर सम्मानित कर चुकी थी। एक उपाधि उन्हें इंग्लैंड के सम्राट के राज्याभिषेक के अवसर पर सन् १९१२ में मिल चुकी थी। यह सी०एस०आई० की उपाधि थी। वास्तव में डॉ० वसु का जीवन तो विज्ञान की सेवा में समर्पित था। इन उपाधियों से उन्हें कुछ प्रयोजन नहीं था। उनका सार्वभौम यश उनके खोज-कार्यों का परिणाम था। इन उपाधियों से डॉ० वसु का गौरव बढ़ने की अपेक्षा उपाधि देने वाली संस्थाएं ही गौरवान्वित होती थीं।

वैसे तो डॉ० वसु के जीवन का एक-एक दिन और एक-एक वर्ष महत्त्वपूर्ण है पर १९१७ ई० का उनके जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

१. इस वर्ष का महत्त्व एक तो इसलिए है कि डॉ० वसु की वर्षों से संजोई हुई आकांक्षा पूरी हुई। उन्होंने 'वसु विज्ञान मन्दिर' की स्थापना इसी वर्ष की थी।

२. इसी वर्ष क्रैस्कोग्राफ नामक यंत्र का आविष्कार किया जिसकी सहायता से पौधों की बाढ़ की गति को नापा जा सकता था। ध्यान रहे कि पौधों की बाढ़ की गति बहुत ही सूक्ष्म होती है। उसे देख पाना और नाप लेना साधारण ढंग से संभव नहीं है। क्रैस्कोग्राफ यंत्र बाढ़ की गति को पांच हज़ार गुना बढ़ाकर दिखाने

में समर्थ था। यही कारण है कि सूक्ष्म से सूक्ष्म बाढ़ भी नापी और जानी जा सकती थी।

३. अब तक डॉ० वसु एक व्यक्ति थे। व्यक्तिगत रूप में भी उनका यश युग-स्थायी है किन्तु व्यक्ति का भौतिक शरीर एक न एक दिन समाप्त होने वाला है। शरीर के साथ ही उनके द्वारा होने वाले कार्य भी रुक जाते हैं। परन्तु डॉ० वसु ने ऐसा सद्प्रयत्न किया कि जहां उनका यश युगों तक स्थायी रहेगा, वहां विज्ञान-साधन की जो ज्योति उन्होंने जलाई थी, वह चिरस्थायी रहे। नये-नये वैज्ञानिक नित-नई खोजों, नये तथ्यों को प्रकाश में लाने के लिए यत्नशील रहें। विज्ञान का प्रकाश फैलाने वाला यह अखण्ड दीप 'वसु विज्ञान मन्दिर' के नाम से देश-देशान्तर को ज्योतित कर रहा है।

रॉयल सोसायटी के सदस्य

प्रथम विश्वयुद्ध जो सन् १९१४ में प्रारम्भ हुआ था, पांच वर्ष बाद समाप्त हो गया। यूरोप-यात्रा की बाधाएं दूर हो गईं। सन् १९१९ में डॉ० वसु फिर विदेश-यात्रा पर निकले। इस बार नये आविष्कृत यंत्र—क्रैस्को-ग्राफ की सब जगह धूम मच गई। पहले बिना यंत्र के

अपनी बात समझाने में जो कठिनाई होती था, वह भी दूर हो गई। विरोधियों को मुंह की खानी पड़ी। सारा विरोध शान्त हो गया। भारत की परतंत्रता के उस युग में, विज्ञान में पिछड़े हुए देश में, अल्प साधनों और साधारण शिल्पियों द्वारा इतना सूक्ष्म अंकन करने वाले यंत्र का आविष्कार अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण बात थी। ऐबरडीन विश्वविद्यालय ने इसी काम के लिए डॉ० वसु को एल० एल० डी० की डिग्री प्रदान की।

सन् १९२० में रॉयल सोसायटी ने उन्हें अपना सदस्य बना लिया। डॉ० वसु की विज्ञान-साधना के लिए यह सम्मान उपयुक्त ही था। एक तरह से विज्ञान-जगत् का यह सबसे बड़ा सम्मान था। इससे पूर्व केवल गणितज्ञ रामानुजन् ही ऐसे भारतीय थे, जिन्हें यह सम्मान मिल चुका था। यह सम्मान पाने वाले डॉ० वसु दूसरे भारतीय थे।

'वसु विज्ञान मंदिर' की स्थापना हो जाने के बाद और कॉलेज से अवकाश ग्रहण कर लेने के कारण खोज का कार्य और भी सुव्यवस्थित ढंग से होने लगा।

कुछ समय बाद डॉ० वसु ने अपना चौथा महत्त्वपूर्ण यंत्र पूरा कर लिया। इसका नाम था 'मैगनेटिक क्रैस्कोग्राफ'। यह यंत्र पिछले यंत्रों से भी अधिक

महत्त्वपूर्ण था और वनस्पति जीवन के अध्ययन के लिए अत्यन्त उपयोगी भी। इसके द्वारा पौधों के भीतर के काष्ठरन्ध्रों में होने वाली क्रियाओं को जाना जा सकता था। पौधों के 'हृदय' की धड़कन इस यंत्र द्वारा अंकित हो जाती थी। जैसे जीवित प्राणियों का हृदय जीवन-पर्यन्त धड़कता रहता है, वैसे ही पौधों में भी जीवन-पर्यन्त हृदय धड़कता है। यह यंत्र पौधों के भीतर की क्रिया को एक करोड़ गुणा बढ़ाकर दर्शाता था। इससे पौधों के पानी पीने, भोजन ग्रहण करने और उसे सारे अंगों में पहुंचाने की क्रिया का पता चल जाता है।

जब वसु महोदय ने इस यंत्र को वैज्ञानिकों के सामने प्रस्तुत किया तो वे इस यंत्र की सूक्ष्म और विराट् शक्ति पर विश्वास नहीं कर सके। रॉयल सोसायटी ने ग्यारह वैज्ञानिकों की एक समिति इसकी जांच के लिए नियुक्त की। इस समिति में सर्वश्री लॉर्ड रेले, सर विलियम वैंग, प्रो० वैलिस, प्रो० डोनन आदि प्रसिद्ध वैज्ञानिक थे। समिति ने जांच करने पर इस यंत्र को बिलकुल सही पाया। इस यंत्र की कार्य-क्षमता में पूरा विश्वास प्रकट किया। सर्वसम्मति से यह कहा गया कि डॉ० वसु ने जिन सिद्धान्तों का प्रति-पादन किया है, वे विज्ञान की महान् उपलब्धि हैं और डॉ० वसु की महान् सफलता है।

फिर विदेश-यात्रा

सन् १९२८ में डॉ० वसु फिर विदेश-यात्रा पर गए। विश्वविद्यालयों और वैज्ञानिक कार्य करने वाली संस्थाओं से आने वाले निमंत्रणों की संख्या का क्या कहना !

इस यात्रा के दौरान वे वियना भी गए। वहां के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रो० मोलिश ने उनका अभिनन्दन किया और उनके कार्यों की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की।

इसी वर्ष गर्मियों में वे जिनेवा गए। प्रो० मोलिश भी उनके साथ हो लिए। प्रो० मोलिश उनके साथ ही भारत आए और छः मास तक 'वसु विज्ञान मन्दिर' में अनुसन्धान-कार्य करते रहे।

यूरोप से लौटते समय डॉ० वसु मिस्र गए। वहां की सरकार ने विज्ञान के इस आचार्य को निमंत्रित किया था। मिस्र के शाह अपने मन्त्रिमण्डल-सहित उनके स्वागतार्थ आए और उनका राजकीय सम्मान किया गया। मिस्रवासियों ने इस पूर्वीय वैज्ञानिक का हार्दिकता से स्वागत किया। वहां के कुछ वैज्ञानिक 'वसु विज्ञान मन्दिर' में शोध-कार्य के लिए भी आए।

विज्ञानाचार्य वसु के यश की सीमा वैज्ञानिक जगत् की परिधि को तोड़कर साहित्य-क्षेत्र में व्याप्त हो गई। उनके समकालीन विश्वविख्यात साहित्कारों

ने उन्हें अपना आत्मीय माना और हार्दिक सम्मान प्रकट किया।

कवीन्द्र रवीन्द्र से उनकी मित्रता के बारे में आप पहले ही जान चुके हैं। जार्ज बर्नार्ड शा ने उन्हें अपनी सारी रचनाएं भेंट की थीं और लिखा था :

"एक अकिंचन द्वारा महानतम जीव-विज्ञान को सादर भेंट।"

इसी प्रकार फ्रांस के महान् साहित्य-स्रष्टा रोम्यां रोलां ने भी उन्हें अपनी एक कृति समर्पित की थी। समर्पण के शब्द थे :

"एक नई दुनिया का द्वार खोलनेवाले को।"

स्वामी विवेकानन्द ने भी उनको खूब प्रशंसा की है।

बीसवीं शताब्दी के महान् वैज्ञानिक प्रो० आइंस्टीन ने उनकी प्रशस्ति में कहा था कि "डॉ० वसु का एक-एक कार्य इतना महत्त्वपूर्ण है कि प्रत्येक के लिए विजय-स्तम्भ स्थापित किया जाना चाहिए।"

इनके अतिरिक्त गाल्सवर्दी, रेबेका बैस्ट, कीट्स, ब्राउन आदि साहित्यकारों ने भी आचार्य वसु का अभिनन्दन किया।

देश में सम्मान

१९२७ में भारतीय विज्ञान कांग्रेस के लाहौर में हुए अधिवेशन का डॉ० वसु को अध्यक्ष बनाकर सम्मानित किया गया।

अगले वर्ष १९२८ में उन्हें प्रयाग विश्वविद्यालय ने दीक्षान्त भाषण देने के लिए निमंत्रित किया। इसी अवसर पर उन्हें डी० एस०-सी० की सम्मानित उपाधि भी प्रदान की गई।

इसी वर्ष भारत के उस समय के वायसराय लॉर्ड चैम्सफोर्ड 'वसु विज्ञान मन्दिर' में आए और उनके कार्यों की प्रशंसा की।

'वसु विज्ञान मन्दिर' की स्थापना में उन्होंने पांच लाख रुपया व्यय किया। इसके अतिरिक्त उनके एक मित्र ने एक बड़ी रकम इस कार्य के लिए दी। इस कार्य के महत्त्व को समझते हुए जनता ने भी धन देकर सहायता की।

सरकार ने इस विज्ञान मन्दिर की उपयोगिता को समझा और नियमित आर्थिक सहायता देने लगी।

इस प्रकार यह प्रयोगशाला राष्ट्र की धरोहर बनी और विज्ञान की ओर बढ़ते राष्ट्र को गतिशील बनाने में महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई।

'वसु विज्ञान मन्दिर' गत वर्षों से विज्ञान

साधकों का तीर्थ बना हुआ है और देश-विदेश के अनेक लोग वहां शोध-कार्य करते हैं। विज्ञानाचार्य वसु की महानता का यह जीता-जागता प्रमाण है कि वे जीवन-भर तो विज्ञान की सेवा करते ही रहे, बाद के लिए भी विज्ञान-साधना के पथ को प्रशस्त कर गए।

विज्ञानाचार्य वसु विज्ञान की उपलब्धियों को किसी एक व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं मानते थे। वे इसे समूची मानवता की धरोहर समझते थे।

वे एक बार बंगीय साहित्य सम्मेलन के और एक बार बंगीय साहित्य परिषद् के सभापति भी रहे। आज स्वतंत्रता-प्राप्ति के अनेक वर्षों बाद देश जिन समस्याओं पर विचार कर रहा है, डॉ० वसु ने उन्हें तभी समझा था और उनकी मनोकामना थी कि विज्ञान की शिक्षा अंग्रेज़ी माध्यम से न होकर देश की भाषा में ही होनी चाहिए।

१ दिसम्बर, १९२८ को उनकी सत्तरवीं वर्षगांठ समारोहपूर्वक मनाई गई। देश के गणमान्य विद्वान और वैज्ञानिक उसमें सम्मिलित हुए। बधाइयों के पत्रों और तारों की गिनती नहीं थी। संसार के कोने-कोने से बधाई-सन्देश आए। 'एशिया के गौरव', 'पूर्व का जादूगर', 'पूर्व की आध्यात्मिकता और पश्चिम की भौतिकता में समन्वय का साधक', 'जड़-चेतन में व्याप्त

एक ही सत्ता के मंत्र का द्रष्टा आधुनिक ऋषि', 'गूंगे वनस्पति जगत् को वाणी देने वाला' आदि अनगिनत प्रशस्तियां की गईं।

इस अवसर पर उन्होंने अपने संदेश में एक बड़े ही महत्त्व की बात कही थी। उनकी पैनी दृष्टि ने कोरी विज्ञान-साधना से होने वाले खतरों को तभी भांप लिया था और चेतावनी-सी देते हुए कहा था :

"विज्ञान को आत्मज्ञान का साधन बनाने से ही संसार की रक्षा हो सकती है।"

देहावसान

सत्तर वर्ष की अवस्था हो जाने पर भी डॉ० वसु विज्ञान-साधना में लगे रहे। इस अवस्था में भी वे युवकों जितना कार्य करते रहे। लोग देखते और दंग रह जाते। वृद्धावस्था का प्रभाव दिनोंदिन बढ़ता जा रहा था। पर लगन के धनी शरीर की परवाह कहां करते हैं! सन् १९३७ में ७९ वर्ष की अवस्था में डॉ० वसु का स्वास्थ्य कुछ ज्यादा गिर गया। यह निश्चय हुआ कि कुछ दिन जलवायु बदलने के लिए तथा कार्य से मुक्त होकर पूर्ण विश्राम किया जाए। वे पत्नी सहित गिरीडीह (बिहार) चले गए।

यहीं पर २३ नवम्बर, १९३७ को उनका

देहावसान हो गया। अन्त्येष्टि-क्रिया के लिए उनका शव कलकत्ता लाया गया और २४ नवम्बर को दाह-संस्कार सम्पन्न हुआ।

भारतमाता की गौरव-पताका को दूर-दिगन्त में फहराने वाला सपूत चल बसा।

उन्होंने अपने जीवन को चरितार्थ किया था। वे सफल-काम और सफल-मनोरथ होकर इस संसार से विदा हुए थे। यद्यपि उनके निधन से सारा देश और विज्ञान-जगत् दुःखी था, फिर भी वे अपने पीछे प्रकाश का ऐसा अखण्ड दीप छोड़ गए थे, जिसकी लौ से अनेक दीप जले और जल रहे हैं।

उनका जीवन प्रकाश-पुंज था, युगों तक हमारे प्रेरक और पथ-प्रदर्शक बने रहेंगे। वे व्यक्ति होते हुए भी संस्था थे। 'वसु विज्ञान मन्दिर' नामक संस्था की स्थापना करके उन्होंने राष्ट्र-सेवा का महान् कीर्ति-स्तम्भ स्थापित किया है।

उन्होंने अपनी वसीयत में, अपने जीवन में संचित धन में से, पन्द्रह लाख रुपये 'वसु विज्ञान मंदिर' के लिए छोड़े थे।

इस प्रकार उनका तन, मन और धन—समस्त जीवन—विज्ञान-साधन के लिए समर्पित था।

आदर्श चरित्र

दृढ़ता और धीरता

संस्कृत की एक सूक्ति है :

'क्रिया सिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे ।'

इसका अभिप्राय है कि कार्य की सिद्धि महापुरुषों के सत्त्व बल पर निर्भर करती है, साधनों पर नहीं ।

विज्ञानाचार्य जगदीशचन्द्र वसु के जीवन का अध्ययन करने के बाद यह बात अक्षरशः सत्य जान पड़ती है ।

जिन दिनों देश और विदेश में वे विज्ञान के अध्ययन में लगे हुए थे, उन दिनों साधारणतया भारतीय युवक इस विषय को उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे । आई० सी० एस० करके ऊंचे पद और वेतन के लोभ में वे अंग्रेज़ सरकार के एक पुर्ज़े बन जाते थे और अपने देश की दासता के बन्धनों को दृढ़ करने में सहायक होते थे । कुछ दूसरे जो कानून की ऊंची शिक्षा विदेश में लेते थे, वे भी उससे मात्र अपना स्वार्थ साधन करते थे । देश में उस समय विज्ञान की एक भी अच्छी प्रयोगशाला नहीं थी । धन का बल भी उनके पास नहीं था । देश में ही यंत्र तथा उपकरण बनाने वाले अच्छे कारीगरों का भी अभाव था ।

कौन-सी ऐसी कठिनाई थी, जिसका उन्हें सामना नहीं करना पड़ा ! पर वाह रे भारत मां के महिमा-शाली पुत्र ! तुम कठिनाइयों के आगे झुके नहीं, रुके नहीं। आगे, और आगे ही बढ़ते गए। और एक दिन सफलता ने उनके चरण चूम लिए। वह चेरी हो गई। वह जहां जाते, वह पीछे-पीछे भागी चली आती।

अभिमान का नाम नहीं

देश-विदेश में कितना सम्मान उन्हें मिला ! उन्हें सम्मानार्थ जो उपाधियां मिलीं, उनकी कोई गिनती है ! बादशाहों से लेकर जनसाधारण तक के वे श्रद्धा-पात्र बने। समूचा विज्ञान-जगत् और साहित्य-जगत् उनके कार्य के आगे सिर झुकाता रहा।

इतनी बड़ी सफलता, इतना बड़ा यश और मान पाकर भी वसु महोदय को अभिमान छू भी नहीं गया था। वे बड़े सरल स्वभाव के थे।

मानधनी

मानो हि महतां धनम्।

मान ही महापुरुषों का धन होता है।

नौकरी मिलने पर जब उनके साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार किया गया तो उसे उन्होंने सहन नहीं किया। तीन वर्ष तक बिना वेतन लिए कॉलेज में पूरे परिश्रम और लगन से पढ़ाते रहे। इस बीच पैसे-पैसे के लिए

तंग रहे, पर झुके नहीं। अन्त में सत्य और न्याय की जीत हुई।

महान् देशभक्त

वसु महोदय का स्वदेश-प्रेम प्रशंसनीय है। विदेश में प्राध्यापक पद स्वीकर करने और खोजों के लिए पूरी सुविधाओं का प्रलोभन मिलने पर भी उन्होंने वहां रहना स्वीकार नहीं किया। अपने देश में कठिनाइयों में कार्य करना उन्हें स्वीकार था।

उनकी वैज्ञानिक शोधों में भारत की आध्यात्मिकता की छाप है। उन्होंने विज्ञान में आत्मज्ञान की प्रतिष्ठा की। 'जड़' में चेतन के दर्शन कराए।

आदर्श अध्यापक

जब कॉलेज में उनकी नियुक्ति हुई तो प्रिंसिपल ने एक देसी आदमी को विज्ञान का अध्यापक बनाए जाने पर नाक-भौं सिकोड़े थे। सहकर्मी पुराने अध्यापकों का विचार था कि कॉलेज के छात्रों को संभालना इस नव-युवक के बूते के बाहर है। छात्रों में भी अपने से थोड़े ही बड़े इस नये अध्यापक के बारे में कुतूहल-मिश्रित जिज्ञासा थी। पर उनके प्रयोग-सहित पढ़ाने के ढंग ने पहले ही दिन छात्रों पर जादू-सा कर दिया। छात्र सारी उद्दण्डता भूलकर एकाग्र-मन होकर विज्ञान के सिद्धान्तों और प्रयोगों में डूब गए।

वसु महोदय में एक विशेषता और थी। वे छात्रों के प्रति अपने कर्तव्य को सदा ध्यान में रखते थे। छात्रों को वे अपना आत्मीय ही समझते थे। वसु महोदय की अपनी कोई सन्तान नहीं थी। वे अपने छात्रों को पुत्रवत् स्नेह करते थे। उनकी व्यक्तिगत कठिनाइयों——समस्याओं को निपटाने में वे सदा सहायक होते।

परोपकारी : दानवीर

परोपकाय सतां विभूतयः।

सत्पुरुषों की विभूतियां परोपकार के लिए होती हैं।

वसु महोदय जो कुछ कमाते थे, उसका केवल पांचवां भाग ही अपने लिए खर्च करते थे। शेष सारी राशि जमा रहती थी। क्या वे कंजूस थे ? रुपया जोड़ने के चक्कर में थे ? वे कंजूस नहीं थे और न रुपये की ममता उन्हें थी। वे तो इस बचे हुए धन का उपयोग अच्छे कामों——परोपकार और दान——में करते थे।

स्त्री-शिक्षा के लिए उन्होंने एक लाख रुपया दान दिया था। एक लाख रुपया ही शराबबन्दी के लिए भी दान दिया था। इसी प्रकार पुस्तकालयों को, बंगीय साहित्य परिषद् को (वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्द-कोश के निर्माण और प्रकाशन के लिए) उन्होंने बड़ी

राशि दान की थी। योग्य छात्रों की सहायता करने के लिए भी वे सदा तत्पर रहते थे। 'वसु विज्ञान मंदिर' के रूप में उन्होंने अपने जीवन की समस्त उपलब्धि राष्ट्र को दे दी।

धर्म में श्रद्धा

आजकल प्रायः लोग सोचते हैं कि धर्म और विज्ञान आपस में विरोधी हैं। पर वास्तविकता यह नहीं है। वसु महोदय विज्ञानाचार्य थे, किन्तु इसके कारण उनकी धर्मनिष्ठा में कोई अंतर नहीं पड़ा। मंत्र, तीर्थ, ब्राह्मण और देवता में उनकी श्रद्धा थी। उन्होंने पत्नी-सहित भारत के प्रमुख तीर्थों की यात्रा की थी, और देव-दर्शन से अपने को कृतार्थ किया था।

एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व

डॉ० वसु सद्गुणों के भण्डार थे। वे निरभिमान थे किन्तु स्वात्माभिमान से पूर्ण। सत्य, न्याय, दया, परोपकार, दृढ़ता, धीरता उनके स्वभावसिद्ध गुण थे। 'सादा जीवन, उच्च विचार' की वे साकार मूर्ति थे। उनके कार्यों से न केवल बंगभूमि और न केवल भारत-भूमि अपितु समूची मानवता गौरवान्वित हुई है।

ऐसे पुण्यश्लोक, आधुनिक ऋषि, चराचर में एकात्मा के साक्षात्कार कर्त्ता को हमारा प्रणाम ! शत प्रणाम !! शत-शत प्रणाम !!!

०००